क्रोध

परम पूज्यपाद श्री रामकिंकरजी महाराज

46

प्रकाशक :
रामायणम् ट्रस्ट
रामायणम् आश्रम, परिक्रमा मार्ग, जानकी घाट
श्रीधाम अयोध्या-224 123
फोन - (05278) 232152

सन् 2007, श्री गुरुपूर्णिमा, सम्वत् 2064

© सर्वाधिकार सुरक्षित
रामायणम् ट्रस्ट, श्रीधाम अयोध्या

संशोधन : डॉ. चन्द्रशेखर तिवारी

मूल्य : 30/-

मुद्रक : गोसपेल प्रेस, लखनऊ
फोन : +91522-4007705
ई-मेल : gospel_paperprint@yahoo.co.in

।। श्री रामः शरणं मम।।

अनुवचन

भक्ति का मुख्य उद्देश्य सत्यं, शिवं, सुन्दरं की सृष्टि है। इसीलिए वह व्यक्ति के इतिहास के स्थान पर भगवान् की लीला को अपना मुख्य केन्द्र बनाता है, उस लीला को गुण-दोष की दृष्टि से श्रवण, पठन का विषय नहीं बनाया जाना चाहिये।

महाभारत और श्रीमद्भागवत पुराण की रचना में यही मूलभूत अंतर है। यद्यपि दोनों के रचयिता श्री वेदव्यास हैं। जो मनुष्य भगवान् की लीला को छोड़कर अन्य कुछ कहने की इच्छा करता है, वह उस-इस इच्छा से ही निर्मित अनेक नाम और रूपों के चक्कर में पड़ जाता है। उसकी बुद्धि भेद-भाव से भर जाती है। जैसे हवा के झकोरों से डगमगाती हुई नौका को कहीं भी ठहरने का ठौर नहीं मिलता वैसे ही उसकी चंचल बुद्धि कहीं भी स्थिर नहीं हो पाती-

ततोऽन्यथा किंचन यद्विवक्षतः पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः।
न कुत्रचित्क्वापि च दुःस्थिता मतिर्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम्।।

सारी सृष्टि ही गुण-दोष से भरी हुई है। वर्तमान में ही व्यक्ति लाखों व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है, और उनमें से अधिकांश हमारे मन पर कोई-न-कोई छाप छोड़ जाते हैं। गुण के द्वारा राग और दोष-दर्शन के द्वारा द्वेष हमारे मन पर छाये रहते हैं। वर्तमान में हमारा जिन लोगों से सम्पर्क होता है, उनसे कुछ-न-कुछ लाभ-हानि की समस्या भी जुड़ी रहती है। अतः एक सीमा तक उस प्रभाव से अछूता रहना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। किन्तु इतिहास तो हमें उन लोगों से जोड़ देता है, जिनसे हमें आज कुछ भी लेना-देना नहीं है। उन पात्रों के प्रति हमारे अन्तर्मन में राग-रोष उत्पन्न कर देता है। इस तरह वह हमारा बोझ हल्का करने के स्थान पर ऐसा अनावश्यक बोझ लाद देता है, जिसे केवल ढोना ही ढोना है।

प्रत्येक जाति और देश उसी परम्परा को ढोने का प्रयास कर रहा है। किसी जाति ने किसी समय दूसरी जाति को उत्पीड़ित किया था, अतः उसका बदला लेने के लिये आज भी घृणा-वृत्ति को जीवित रखता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का प्रतिद्वन्द्वी है और अपनी श्रेष्ठता की सुरा

पीकर अन्य राष्ट्रों के विरुद्ध संघर्ष करता है और इस तरह हिंसा-प्रतिहिंसा के चक्र को आगे बढ़ाता ही जाता है। घृणा और संघर्ष की ये प्रवृत्तियाँ मानव-मन में आदिम-काल से विद्यमान हैं। उन्हें उकसाना बहुत सरल है। इससे नेतृत्व प्राप्त कर लेना अत्यन्त सरल हो जाता है। किन्तु इसके द्वारा व्यक्ति और समाज को क्या प्राप्त होता है? यदि हम शान्त चित्त से विचार करें तो देखेंगे कि अशान्ति ही इसकी उपलब्धि है। इसी को देवर्षि नारद हवा के थपेड़ों से भटकती हुई नौका के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। समुद्र या नदी का जल सहज भाव से अशान्त होता है और कहीं तूफान आ जाय तो कहना ही क्या है? मनुष्य का मन भी जल की ही भाँति चंचल है। बुद्धि की नौका पर बैठकर व्यक्ति उस चंचलता के माध्यम से नौका को खेता हुआ लक्ष्य की ओर बढ़ता है। किन्तु उसी समय यदि सामूहिक द्वेष की आँधी चल पड़े तो नौका पर आरूढ़ उस यात्री की दशा की कल्पना की जा सकती है। व्यक्ति और समाज के जीवन में इस आँधी की सृष्टि करने में इतिहास का बहुत बड़ा भाग है।

देवर्षि नारद का श्री वेदव्यास के प्रति यही व्यंग्य था कि तुमने महाभारत-जैसे विशाल इतिहास की सृष्टि करके समाज को क्या देना चाहा है? देवर्षि का उद्देश्य महाभारत के ज्ञान और दर्शन की अवहेलना करना नहीं था। इस क्षेत्र में महाभारत के अद्वितीय अवदान की सराहना उन्होंने प्रारम्भ में ही कर दी थी। किन्तु महाभारत के जातीय युद्ध की गाथा और व्यक्तियों के इतिहास को लेकर वे प्रश्न-चिह्न अवश्य प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि से महाभारत की उपयोगिता संदिग्ध है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी इस पर एक कटाक्ष किया, "मैं तो चाहता हूँ कि लोग रामायण की शिक्षा का अनुगमन करें, किन्तु समाज तो महाभारत का अनुकरण कर रहा है। मुझ-जैसे दुष्ट की कौन सुने? कलियुग का स्वभाव ही कुचाल से प्रेम करना है-

रामायन सिख अनुहरत, जग भयो भारत रीति।
तुलसी सठ की को सुनै, कलि कुचाल पर प्रीति।।

स्वभावतः संघर्ष प्रिय मानव मन कौरव-पाण्डवों के चरित्र को अपना आदर्श बना लेता है। वह यह सोचकर सन्तुष्ट हो जाता है कि

यदि द्वैपायन व्यास-जैसा महापुरुष पाण्डवों को आदर्श मानता है तो उसका अनुगमन करना क्या बुरा है?

देवर्षि नारद व्यास को श्रीमद्भागवत की रचना के लिये प्रेरित करते हैं और इस रचना के बाद ही व्यास, सन्तोष, शान्ति और प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

सद्गुण सम्पन्न श्री गणात्रा दंपति बहुत अच्छे साधक हैं, उनके स्वभाव की तेजस्विता और सेवा में अधीरता प्रभु से जुड़कर उनके लिये भूषण बन गयी। श्रीमती अंजुजी की श्रद्धा, समर्पणभाव जो मैंने अनुभव किया वह दुर्लभ है।

सत्साहित्य प्रकाशन में उनकी यह सेवा असंख्य भक्तों के लिये प्रेरणारूप रहेगी। उनके स्वर्गीय माता पिता उनकी मातृ-पितृ एवं गुरुभक्ति देखकर अवश्य आश्वस्त एवं प्रसन्न होंगे।

सम्पूर्ण गणात्रा परिवार के प्रति मंगलकामना करते हुए प्रभु से प्रार्थना! उनके जीवन में सुचिता, सुमधुरता एवं सुमति बनाये रखें।

निष्ठा एवं समर्पण भाव से कार्यरत डॉ. चन्द्रशेखर तिवारी इस सत्संकल्प को साकार करने में मन-प्राण से लगे हुए हैं। उनकी श्रद्धा बलवती हो! यही शुभाशीष।

रामायणम् ट्रस्ट के ट्रस्टीगण को मैं क्या धन्यवाद दूँ! वे तो मेरे अपने हैं। उनका स्नेह सद्भाव सदैव बना रहे यही प्रभु के चरणों में निवेदन!

अन्य सभी सेवादार एवं नरेन्द्र शुक्ल जिन के अथक परिश्रम से यह ग्रन्थ आप सभी सुधी साधकों को समर्पित है।

प्रभु की सुगंध, प्रभु का सौरभ प्रभु का स्पन्दन सबके जीवन में हो, यही मंगलकामना है।

त्वदीयं वस्तु श्रीराम तुभ्यमेव समर्पये।

सादर,

परम पूज्य महाराजश्री रामकिंकरजी की ओर से

मन्दाकिनी श्रीरामकिंकरजी

।। श्री रामः शरणं मम।।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुर्साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः।।
ह्रदय विराजत रामसिय और दास हनुमान।
ऐसे श्री गुरुदेव को बारम्बार प्रणाम।।

रामचरितमानस के प्रति प्रेम और आस्था के संस्कार हमारे परिवार में मेरे दादा श्री विट्ठलदास बालजी गणात्रा से मिला। पर मानस को रक्त में मिलाकर जीवन को अमृतमय बनाने का कार्य मेरे परम पूज्य सद्गुरुदेव रामायणमय वाणी के पर्याय श्रीरामकिंकरजी महाराज ने किया।

परम पूज्य श्री रामकिंकर महाराज का एक ग्रन्थ पढ़ते ही मुझे लगा कि जो मेरे पास नहीं है वह मानो मिल गया, अन्धकार से प्रकाश हो गया, घुटन के बाद हवा मिल गयी और संसार से विष के बदले अमृत मिलने लगा। सबसे पहले मैंने उनको लन्दन से मुम्बई आकर "बिरला मातुश्री सभागृह" में अपने बड़े भाई के साथ सुना। ऐसा सुदर्शन उनका दर्शन, ऐसा अमृतमय उनका वचन, ऐसी गम्भीर उनकी वाणी, अद्वितीय प्रस्तुतीकरण उस समय मुझे वे ही वे दिख रहे थे। हम जिस होटल में ठहरे थे, कृपापूर्वक हमलोगों के कहने पर वे वहाँ पर पधारे और हमने उन्हें हनुमानचालीसा, नवधा-भक्ति तथा श्रीमद्भगवद्गीता का बारहवाँ अध्याय "भक्ति-योग" सुनाया।

कुछ वर्षों तक ऐसे ही भारत आना-जाना लगा रहा, मैं भारत केवल महाराजश्री को ही सुनने आता था। मेरे और मेरी पत्नी अंजू के विशेष आग्रह पर उन्होंने ऐसी कृपा की, कि वे एक महीना के लिये लन्दन आये और चौदह या पन्द्रह प्रवचन किये। वहाँ जिज्ञासुओं ने उस अवसर पर पूरा लाभ उठाया। लन्दन के निवासियों के लिये वह स्मृति अविस्मरणीय हो गयी। महाराजश्री की पुस्तकों में व्यक्ति के जीवन, चिन्तन और दिशा बदलने की अभूतपूर्व सामर्थ्य है। भारत मूल का होने के नाते मुझे यहाँ की भूमि बहुत आकर्षित करती है, और उस आकर्षण का मूल कारण केवल यह है कि जहाँ प्रभु श्रीराम ने अवतार

लिया, जहाँ पर गंगा और सरयू का तट है और जिस भूमि पर एक ऐसे महापुरुष ने जन्म लिया जो मन, वचन और कर्म से राममय थे और राममय हो गये। उनकी कृपामूर्ति का दर्शन कर जैसे आज के समय में हमलोग गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज की स्मृति करते हैं उसी तरह आज से हजारों वर्ष तक लोग परम पूज्य श्रीरामकिंकरजी महाराज के दर्शन और उनके अमृतमय साहित्य को पढ़कर अपने जीवन में मार्गदर्शन प्राप्त करते रहेंगे।

आज मनुष्य को जिस वस्तु की जरूरत है, वह है स्वस्थ चिन्तन और पवित्र दिशा। इसके अभाव में व्यक्ति कितना भी विकास क्यों न करे, उसको विकास नहीं माना जा सकता। रामायणम् ट्रस्ट को पूज्य महाराजश्री का यह वरदान प्राप्त है कि वह उनके चिन्तन को प्रसारित व प्रचारित करने के लिये अधिकृत है। मेरा यह मानना है कि जितनी भगवान् श्रीराम के नाम की महिमा है, उतनी ही महिमा परम पूज्य महाराजश्री के साहित्य की है, क्योंकि दोनों ही भगवान् के शब्दमय विग्रह हैं।

रामायणम् ट्रस्ट की अध्यक्ष श्रद्धेय मन्दाकिनी श्रीरामकिंकरजी एवं सभी ट्रस्टियों का मैं अभारी हूँ कि जिन्होंने मुझे इस सेवा का अवसर दिया और भविष्य में भी मेरी यही भावना है कि ऐसी सेवा मैं करता रहूँ। आमतौर पर माना यह जाता है कि बड़े सत्कर्मों के परिणामस्वरूप सम्भव होता है जब गुरु कृपा होती है, पर मेरा मानना यह है कि मेरा तो कोई भी कर्म ऐसा नहीं है जिसके फलस्वरूप मुझे ऐसे अवतार पुरुष की कृपा प्राप्त होती, यह तो उनकी अहैतुकी कृपा ही थी कि वे बिना कारण ही मुझ पर कृपा करते थे और करते हैं।

अपनी पूज्य माताजी और पूज्य पिताजी की पुण्य स्मृति में यह सेवा करके मुझे जीवन में धन्यता का अनुभव हो रहा है।

श्री गुरुदेव का चरण सेवक,
अरुण गोर्धनदास गणात्रा और
अंजू अरुण गणात्रा, लन्दन

क्रोध

क्रोध मनोज लोभ मद माया।
छूटहिं सकल राम की दाया।।
सो नर इंद्रजाल नहिं भूला।
जा पर होइ सो नट अनुकूला।। ३/३८/३,४

आइये! क्रोध की वृत्ति पर विचार करें। क्रोध की यह वृत्ति हम सब के जीवन में दिखायी देती है। शायद ही कोई ऐसा बिरला व्यक्ति हो, जिसके जीवन में इसका उदय न होता हो! ऐसा तो हो सकता है कि कुछ लोग अपनी इस वृत्ति को बाहर प्रकट होने से रोकते हों और किसी तरह अपने आप को शान्त बनाये रखने का यत्न करते हों। पर क्रोध की वृत्ति संसार के समस्त प्राणियों की प्रकृति में दिखायी देती है।

रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में भक्त-शिरोमणि भुशुण्डिजी 'मानस-रोगों' का वर्णन करते हैं और उन्हें दूर करने की दवा भी बताते हैं। मानस-रोगों के इस विवेचन में वे आयुर्वेद शास्त्र की जो मान्य पद्धति है उसका आश्रय लेते हैं।

भुशुण्डिजी मन के रोगों को समझाने के लिये उनकी तुलना शरीर के रोगों से करते हैं। आयुर्वेद शास्त्र की मान्यता है कि मनुष्य की प्रकृति में तीन दोष बात, पित्त और कफ विद्यमान रहते हैं और प्रत्येक व्यक्ति में इन तीनों में से किसी एक की प्रधानता रहती है। इसलिए हम देखते हैं कि सब की प्रकृति समान नहीं होती। यह बात शरीर में होने वाले रोगों से भी ज्ञात होती है कि किस व्यक्ति में कौन-सा दोष प्रधान है।

वात-प्रकृति-प्रधान व्यक्तियों को बहुधा शारीरिक पीड़ा तथा

जोड़ों में दर्द का अनुभव होता है। पित्त-प्रधान व्यक्ति को शरीर में जलन की अनुभूति होती है और इसी तरह कफ-प्रधान व्यक्ति शीतजन्य रोगों जैसे सर्दी-खाँसी आदि से पीड़ित दिखायी देता है।

आयुर्वेद शास्त्र का नियम है कि दवा देने में रोग के साथ रोगी की भी प्रकृति का ध्यान रखा जाता है। इस विषय में आयुर्वेद एवं वर्तमान 'होम्योपैथी' के सिद्धान्त में समानता है। यदि पित्त-प्रधान व्यक्ति को खाँसी हो और उसे मिटाने के लिये उष्ण-प्रकृति की दवा भी दे दी जाय, तो परिणाम में खाँसी भले ही कम हो जाय, पर पित्त का कष्ट बढ़ जायेगा। दवा ऐसी नहीं होनी चाहिये कि जो एक कष्ट को तो मिटाये पर दूसरे कष्ट को बढ़ा दे। इसीलिए आयुर्वेद में नाड़ी के द्वारा निदान करने की परंपरा रही है जिससे रोगी की प्रकृति को देखकर दवा दी जा सके।

शरीर के संबंध में जैसे तीन विकारों की बात कही गयी, ठीक उसी प्रकार से 'मानस' में मन के भी तीन विकारों की बात कही गयी है। 'मानस-रोगों' की शरीर के रोगों से तुलना करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि 'काम' ही बात है, 'क्रोध' पित्त है और 'लोभ' ही कफ है -

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा।। ७/१२०/३०

इन विकारों की प्रधानता से काम-प्रधान, क्रोध-प्रधान या लोभ-प्रधान वृत्ति वाले व्यक्ति हमें समाज में दिखायी देते हैं।

मनुष्य के शरीर रहते तक तो यह सम्भव नहीं है कि वात, पित्त और कफ को पूरी तरह मिटा दिया जाय, क्योंकि तब तो शरीर ही मिट जायेगा और मनुष्य की मृत्यु हो जायगी। इसलिए वैद्य जब दवा देता है तो उसका उद्‌देश्य वात, पित्त और कफ को मिटा देना नहीं होता। इसी प्रकार से मन में काम, क्रोध और लोभ सर्वथा हों ही नहीं, यह असंभव है। अतः इन विकारों को समाप्त करने की आवश्यकता नहीं है, अपितु इनमें संतुलन लाने की आवश्यकता है और इसके लिये इनमें से जो विकार या रोग उग्र हो गया है वह शान्त हो, ऐसी दवा देने की आवश्यकता है।

आइये! पहले हम इस पर एक दृष्टि डालने की चेष्टा करें कि क्रोध किन-किन रूपों में व्यक्ति के जीवन में आता है औरउसके क्या-क्या परिणाम होते हैं। कई बार ऐसा होता है कि लोग किसी महात्मा की प्रशंसा करते हुए कह देते हैं कि 'मैंने उन्हें कभी क्रोध करते नहीं देखा। उन्होंने नहीं देखा होगा यह ठीक हो सकता है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि 'महात्माजी को कभी क्रोध आता ही नहीं है। मुझे भी महात्माओं के निकट रहने का सौभाग्य मिला है, पर ऐसा कोई महात्मा नहीं मिला कि जिसे क्रोध न आता हो। मेरी प्रार्थना है कि मेरी इस बात का वे सब सज्जन बुरा नहीं मानेंगे जो अपने गुरुओं की प्रशंसा में इस प्रकार के शब्द कहने के अभ्यस्त हों। क्योंकि, क्रोध न आये, ऐसा तो संभव ही नहीं है, पर क्रोध के स्वरूप का दर्शन हमें शंकर जी के चरित्र में प्राप्त होता है।

'मानस' में यह प्रसंग आपने पढ़ा होगा, जिसमें वर्णन आता है कि भुशुण्डिजी शिव-मंत्र की दीक्षा लेकर उज्जैन में निवास करते हैं और भगवान् महाकाल की पूजा-उपासना और मंत्रजप करते हैं। उनकी प्रकृति में एक दोष भी आ गया था कि वे भगवान् शंकर की तो उपासना करते थे पर साथ-साथ वे भगवान् राम और भगवान् विष्णु की निन्दा भी अवश्य करते थे। इसके पीछे उनका एक तर्क था जो उनके पिछले अनुभव से जुड़ा हुआ था।

भुशुण्डिजी का जन्म अयोध्या में हुआ था और जब वहाँ एक बार अकाल पड़ गया तो वे भूखों मरने लगे और दुखी होकर, वे अयोध्या को छोड़कर उज्जैन आ गये। उज्जैन में उस समय सुकाल की स्थिति थी। इससे भुशुण्डिजी की यह धारणा बन गयी कि 'वह देवता किस काम का जहाँ भूखों मरना पड़े? वे सोचने लगे कि भगवान् राम से तो भगवान् शंकर ही अच्छे हैं, क्योंकि इनकी नगरी में सुकाल है, और खाने-पीने के लिये प्रचुर अन्न-जल मिलता है। भुशुण्डिजी का यह निर्णय बिल्कुल ही बचकाना है, क्योंकि इस तरह तो प्रत्येक मौसम में व्यक्ति को इष्ट बदलते रहना पड़ेगा। गर्मी ज्यादा पड़ने लगे तो ठण्डा स्थान प्रदान करने वाला इष्ट ढूँढ़ना पड़ेगा। सर्दी ज्यादा लगने लगे, या फिर बर्षा ज्यादा हो जाय, तो नित्य नये-नये इष्टों की खोज में ही व्यक्ति

लगा रहेगा। इसे हम सुख-सुविधा की खोज तो मान सकते हैं, पर इस तरह उपासना और आराधना तो नहीं हो सकती।

भुशुण्डिजी के गुरुदेव बड़े ही संत प्रकृति के थे। वे बार-बार भुशुण्डिजी को समझाते थे कि 'तुम अपने इष्ट भगवान् शिव की पूजा करो, भक्ति करो! पर भगवान् राम की निंदा मत करो, क्योंकि निंदा करना दोष है। वे उन्हें यह भी स्मरण दिलाते थे कि शंकरजी स्वयं भगवान् राम का भजन करते हैं। पर इन बातों को सुनकर भुशुण्डिजी को बड़ा क्रोध आता था। वे सोचते थे - 'बड़े अद्‌भुत गुरुजी मिल गये, जो रामजी को भगवान् शंकर से बड़ा बता रहे हैं!' यद्यपि बाहर, भुशुण्डिजी अपने गुरुदेव से प्रकट रूप में कुछ नहीं कहते थे, पर भीतर-ही-भीतर वे यही मानते थे कि मेरी जैसी अनन्यनिष्ठा तो मेरे गुरुजी में भी नहीं है।

वर्णन आता है कि एक बार भुशुण्डि जी भगवान् शिव के मंदिर में बैठकर जप कर रहे थे। उसी समय उनके गुरुदेव भी वहाँ पर आ गये। शिष्य का यह कर्तव्य होता है कि गुरुजी के आने पर वह उठकर उनका स्वागत करें। यद्यपि भुशुण्डिजी ने गुरुजी को देख लिया था, पर उन्होंने उठकर उनका स्वागत-अभिवादन नहीं किया। वे जानबूझकर बैठे रहे और आँखें बंदकर ऐसा स्वाँग बनाया कि जैसे उन्होंने गुरुजी को देखा ही नहीं। गुरुदेव तो सरल-संत प्रकृति के थे, अतः शांत ही रहे पर इस उपेक्षा को भगवान् शंकर नहीं सह सके और उन्हें क्रोध आ गया।

भगवान् शंकर के चरित्र में क्रोध की जो स्वीकृति दिखायी देती है उसका भी एक तात्पर्य है। वस्तुतः क्रोध के अनेक रूप हैं। भगवान् शंकर तो त्रिभुवन गुरु हैं। इस रूप में वे मन के रोगों के परम वैद्य हैं। शरीर के रोगों को दूर करने के लिये, ठीक उसी प्रकार से गुरु के पास जाना पड़ता है। शरीर के रोगों के संदर्भ में हम देखते हैं कि डाक्टर किसी को मीठी दवा देता है और किसी को कड़वे स्वाद वाली दवा देता है। मन के रोगों के संदर्भ में भी यही बात सत्य है। गुरुदेव भी मन के रोगों को दूर करने के लिये जो दवाएँ बताते हैं वे भी कड़वी-मीठी हो सकती हैं।

हमारे काशी में एक वैद्य रहते थे। एक बार एक सज्जन उनके पास आये और कहने लगे- ''वैद्यजी! कोई ऐसा स्वादिष्ट चूर्ण दीजिए जो चटपटा और मीठा हो।'' सुनकर वैद्यजी बिगड़ खड़े हुए और कहने लगे कि 'यह चटनी-चूर्ण की दुकान नहीं है, दवाखाना है, यहाँ दवा दी जाती है,' और उस व्यक्ति को वहाँ से भगा दिया। इसका अर्थ यह है कि वैद्य रोग को दूर करने की दृष्टि से ही दवा देता है, स्वाद-पूर्ति के लिये तो देता नहीं, इसलिए दवा मीठी भी हो सकती है और कड़वी भी हो सकती है।

भगवान् शंकर के द्वारा किया जाने वाला क्रोध भी मानो एक दवा ही है। भुशुण्डिजी के गुरुदेव को भले ही क्रोध नहीं आया, पर त्रिभुवन गुरु- गुरुणाम् गुरुः भगवान् शंकर को क्रोध आ गया। इसका उद्‌देश्य क्या था? क्योंकि क्रोध यदि दवा के रूप में हो तो रोगी उससे स्वस्थ होगा और उसको क्रोध यदि आवेश, अहंकार या बदले की भावना से, प्रतिक्रिया के रूप में होगा तो उसके द्वारा क्रोध करने वाला तथा जिस पर क्रोध किया जाय, उन दोनों की ही हानि होगी।

भगवान् शंकर के क्रोध में एक बड़ा सुंदर संकेत था। हम जानते हैं कि यदि किसी के शरीर में कोई रोग हो जाय, तो उसे दवा दी जाती है और पथ्य भी बताये जाते हैं कि क्या खाना है और क्या नहीं लेना है। जैसे, यदि किसी व्यक्ति को पेट का रोग हो जाय, तो वैद्य उसे अन्न छोड़ने की सलाह देते हैं, इसी प्रकार से शास्त्रों में किसी व्यक्ति के द्वारा अपराध होने पर, दण्ड और प्रायश्चित्त की व्यवस्था है। श्रुति ने मनुष्य की प्रकृति को समझकर ही यह व्यवस्था दी है। जब यह कहा जाता है कि मनुष्य पाप करने पर नरक में जाता है और पुण्य करने पर स्वर्ग प्राप्त करता है, तो लोग बार-बार यह प्रश्न करते हैं कि 'क्या सचमुच स्वर्ग या नरक होते भी हैं?' कबीरदासजी ने तो इसका व्यंग्य-भरा उत्तर दे दिया।

किसी ने कबीरदासजी से पूछा -'महाराज! आप कृपा करके हमें बतायें कि स्वर्ग में क्या-क्या होता है और नरक में क्या-क्या होता है?'' कबीरदास जी ने कहा- ''क्या बताऊँ?''-

उतते कोउ न लौटा जाते पूछौं धाय।

उधर से यदि कोई लौटकर आता, तब न मैं उससे स्वर्ग-नरक के हालचाल पूछता! मुझे तो बस इधर से उस ओर जाने वाले ही दिखायी देते हैं -

इतते सबहीं जात हैं भार लदाय लदाय।।

इसलिए उधर के बारे में क्या कह सकता हूँ? पर स्वर्ग और नरक का जो वर्णन किया गया है, यदि हम उसे व्यक्ति और समाज की वृत्ति से जोड़कर देखने की चेष्टा करें तो उसमें एक महत्त्वपूर्ण संकेत प्राप्त होता है।

वर्णन आता है कि नरक में यमराज दण्ड देते हैं और स्वर्ग में कहा गया कि वहाँ, धर्मराज पुरस्कार देते हैं। तो दण्ड और पुरस्कार हमें समाज में भी देखने को मिलते हैं। यहाँ इस लोक में भी अपराध करने पर व्यक्ति को कारागार में डाला जाता है और अच्छा काम करने पर पुरस्कार दिया जाता है। इसका तात्पर्य यही है कि मनुष्य के जीवन में तथा समाज में दण्ड और प्रलोभन की वृत्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसके द्वारा समाज में बहुत से कार्य होते भी हैं। इसलिए ऐसा भी कहा जा सकता है कि 'लोभ' और 'भय' की वृत्तियाँ ही स्वर्ग और 'नरक' के मूल में देखी जा सकती हैं। व्यक्ति इसी प्रेरणा से सद्कर्म में प्रवृत्त होता है और बुरे कर्मों से डरता है। यदि हम किसी ईश्वर की व्यवस्था पर विश्वास करें तो फिर यह भी मानना ही चाहिये कि स्वर्ग और नरक भी होते हैं, जहाँ व्यक्ति को उसके कार्य के अनुसार दण्ड और पुरस्कार प्राप्त होते हैं।

किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर, परंपरया हम उस व्यक्ति के नाम में 'स्वर्गीय' शब्द का प्रयोग करते हैं। अब, किसी ने जाकर देखा तो है नहीं कि वे स्वर्ग में हैं या नरक में है, पर सम्मान देने के लिये ऐसा कहा जाता है। गोस्वामीजी भी स्वर्ग और नरक का नाम लेते हैं पर एक भिन्न बात कहते हैं। उन्होंने कहा कि भई! मैं स्वर्ग और नरक की बात नहीं जानता-

को जानै को जइहै सुरपुर कौन नरक परधाम को। वि.प. १५५

इसलिए मरने के बाद कौन कहाँ जायेगा, उसकी बात मैं नहीं करता। उनसे पूछा गया कि फिर भक्ति की क्या आवश्यकता है?

उन्होंने कहा -

तुलसी बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को। वि.प. १५५

भक्त तो इसी जीवन में धन्य हो जाता है। क्योंकि उसे यहीं आनंद और रस का अनुभव हो जाता है। कहा जा सकता है कि इस जीवन में ही अच्छे कार्य करने की प्रेरणा के लिये प्रलोभन के रूप में स्वर्ग को तथा दुर्वृत्तियों से मिलने वाले दण्ड के भय के रूप में नरक को देख सकते हैं। इस प्रकार समाज में व्यवस्था बनी रहेगी। व्यक्ति मनमाने आचरण करने से डरेगा और दुराचार की वृत्ति पर अंकुश लगेगा। आप जानते ही हैं कि अनेक ऐसे रोग हैं जो मनुष्य के दुराचार से जन्म लेते हैं, प्रकृति ने उन रोगों की सृष्टि नहीं की है। इसलिए मनुष्य की उच्छृंखलता की वृत्ति को सही दिशा देने के लिये दण्ड की भी आवश्यकता है। यही बात भगवान् शंकर ने भुशुण्डिजी से कही। भगवान् शंकर कहते हैं कि -

जौं नहिं दंड करौं खल तोरा।
भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा।। ७/१०६/४

यदि मैं तुम्हें दण्ड न दूँ तो उसका परिणाम यही होगा कि शास्त्र ने जो एक व्यवस्था बतायी है वह नष्ट हो जायेगी। इसलिए मैं तुम्हें दण्ड दे रहा हूँ। तुम गुरुजी के आने पर भी जानबूझकर बैठे रहे, उठने का निश्चय भी नहीं किया। इस अपराध के लिये मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि तुम अजगर हो जाओ। तुम्हें दण्ड के रूप में अनेक जन्म भी लेने पड़ेंगे। भुशुण्डि जी शाप सुनकर डर के मारे काँपने लगे। वे जिनका पक्ष ले रहे थे और जिसके प्रति अपनी अनन्य निष्ठा का उन्हें अहंकार था उन्होंने ही दण्ड दे दिया, और उनके गुरुजी को भुशुण्डि पर दया आ गयी। उन्होंने भगवान् शंकर के चरणों में गिरकर बड़े करुण स्वर में उनकी स्तुति की। आप सब जानते ही हैं कि यह स्तुति-

नमामीशमीशान निर्वाण रूपं,
विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपं। ७/१०७/१

रुद्राष्टक के रूप में बड़ी प्रसिद्ध है। स्तुति करने के बाद उन्होंने भगवान् शंकर से कहा कि महाराज! आप तो कृपालु हैं पर आपने शाप दे दिया, दण्ड दे दिया। पर आपका क्रोध भी कल्याणकारी होता है। अतः -

एहि कर होइ परम कल्याना।
सोइ करहुँ अब कृपानिधाना।। ७/१०८/१

मैं यह तो नहीं कहूँगा कि आप इसे शाप मुक्त कर दीजिये, पर ऐसी कृपा अवश्य कर दीजिये कि जिससे थोड़े ही दिनों में फल भोगकर यह कल्याण की प्राप्ति कर ले। यही हुआ भी! भगवान् शंकर का क्रोध परम कल्याणकारी बनकर, मानो वरदान बन गया।

शंकर जी गुरुजी की इस भावना से प्रसन्न हो गये उन्होंने कहा इसे अजगर तो बनना पड़ेगा और हजार जन्म भी लेने होंगे। पर जन्म और मृत्यु में जो दुःख होता है वह इसे नहीं होगा, दूसरी बात भगवान् शंकर ने कही कि व्यक्ति को पूर्वजन्म की बात भूल जाती है पर इसे प्रत्येक जन्म का स्मरण बना रहेगा।

वैसे तो पूर्वजन्म की बात भूल जाना, यह भी ईश्वर की एक कृपा ही है, क्योंकि एक ही जन्म के शत्रुओं और मित्रों की याद से ही व्यक्ति इतना दुखी रहता है, यदि अनेकों जन्मों के इन सम्बन्धों की स्मृति बनी रह जाये तो व्यक्ति का जीना दूभर ही हो जायेगा। इस दृष्टि से विस्मरण ही श्रेष्ठ है। पर उन स्मृतियों का यदि वर्तमान जीवन में सदुपयोग हो सके, तब तो ऐसी स्मृतियाँ भी अच्छी हैं। याद रह जाने के कारण यदि व्यक्ति में राग या द्वेष आ जाये तो याद रह जाना बुरा है पर यदि यह स्मृति, वर्तमान में निरन्तर हमें सावधान करती रहे कि इस जन्म में वैसी भूलें न होने पायें तब तो निःसंदेह यह हितप्रद है।

भगवान् शंकर का शाप विवेकजन्य शाप का ही स्वरूप है और इसलिए उसका फल एक वरदान की भाँति ही दिखायी देता है। यदि कोई किसी को शाप देते हुए यह कहे कि 'तुम्हें अग्नि में प्रवेश तो करना पड़ेगा, पर तुम न तो जलोगे और न ही तुम्हें कष्ट होगा,' तो इससे बढ़िया बात और क्या हो सकती है कि कोई आग में घुसकर भी ज्यों-का-त्यों बाहर निकल आये? यह शाप है कि एक सिद्धि है? शंकरजी का क्रोध भी वैद्य की दवा की तरह ही है जो व्यक्ति को स्वस्थ बनाकर, उसका कल्याण ही करती है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति को चाहिये कि वह क्रोध को भगवान् शंकर की तरह ही अपने जीवन में स्वीकार करे। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक क्रोधी व्यक्ति अपने

आप को शंकर ही मानने लगे।

भुशुंडिजी के गुरुजी ने भगवान् शंकर के लिये जो शब्द कहे, वे बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। वे कहते हैं कि भगवान् शंकर देखने में परम कराल लगते हैं पर भीतर से परम कृपालु हैं -

करालं महाकालकालं कृपालं। ७/१५७/४

इस प्रकार क्रोध का एक स्वरूप वह है कि जो भगवान् शंकर के चरित्र में दिखायी देता है और क्रोध का दूसरा रूप सामने आता है प्रतापभानु के प्रसंग में।

'प्रतापभानु' बड़ा धर्मात्मा राजा था। एक अच्छे राजा के रूप में उसकी ख्याति थी। वह अनेकानेक यज्ञ करता था, पर आचार्यों और ऋषियों के द्वारा उद्‌देश्य पूछे जाने पर यही कहता था कि 'इन यज्ञों को सम्पन्न करने के पीछे मेरी कोई फलाकांक्षा नहीं है, ये यज्ञ और यज्ञफल दोनों ही भगवान् को अर्पित हैं। इसे सुनकर तो ऐसा लगता है कि गीता का यह वाक्य, जिसमें कहा गया है कि-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। गीता-2

उसके जीवन में पूरी तरह चरितार्थ हो चुका है और प्रतापभानु एक महान् निष्काम कर्मयोगी है जिसके जीवन में पूर्ण 'समर्पण-भावना' है। पर सत्य यह है कि वह ऊपर से चाहे जैसा भी लगता हो, उसके भीतर कामनाएँ और वासनाएँ छिपी हुई थीं।

उसके इस दिखावटी व्यवहार के पीछे भी एक कारण था। उसने शास्त्रों के उन वचनों को पढ़-सुन लिया था, जिसमें यह कहा गया है कि 'निष्काम' होना सबसे ऊँची स्थिति है। इसलिए प्रतापभानु यह सोचकर कि यदि मैं कामना व्यक्त करूँगा तो कहीं नीची स्थिति वाला न मान लिया जाऊँ, मात्र अपने आप को ऊँची स्थिति वाला सिद्ध करने के लिये ही निष्कामता का दिखावा करता है। 'आप स्वाभाविक रूप से जैसे हैं, उसी रूप में अपने आपको स्वीकार कर लेना, यह सरलता है, पर जो हैं उससे एक भिन्न रूप में अपने आपको दिखाने की चेष्टा करना, यह दंभ है। प्रतापभानु के जीवन में वस्तुतः दंभ ही विद्यमान था, निष्कामता नहीं थी।

वर्णन आता है कि उस समय एक राजा ऐसा भी था जिसका

राज्य प्रतापभानु ने छीन लिया था। वह राजा पराजय के क्रोध से भरा हुआ था और बदला लेने की ताक में रहता था। पर वह अपने मनोभावों को छिपा लेने की कला में भी बड़ा निपुण था। इसलिए-

रिस उर मारि रंक जिमि राजा।
बिपिन बसइ तापस के साजा।। १/१५७/५

उसने निर्णय किया कि समय आने पर मैं इससे बदला अवश्य लूँगा और वह समय-यापन हेतु वन में आश्रम बनाकर रहने लगा। कालकेतु नाम का राक्षस भी उसका मित्र बन गया था। इस राक्षस के दस पुत्रों का भी वध प्रतापभानु के द्वारा किया गया था। अतः कालकेतु भी प्रतिशोध की भावना से भरा हुआ था। वे दोनों इस बात को जानते थे कि प्रतापभानु सचमुच वैसा है नहीं जैसा कि वह बाहर से होने का दिखावा करता है। उन्होंने प्रतापभानु की इसी कमी का लाभ लेते हुए उसे ठगने की योजना बनायी।

प्रतापभानु एक बार विन्ध्याचल के गंभीर वन में शिकार करने के लिये गया। वह बड़ा अचूक निशानेवाला था। जिस पशु पर भी वह बाण चलाता, वह पशु बाण लगने से तत्काल ही गिर जाता, दिन भर प्रतापभानु पशुओं को मारता रहा और जब वापस लौटने लगा, उस समय कालकेतु राक्षस एक विशाल शूकर का रूप बनाकर उसके सामने आ गया। शूकर को देखकर प्रतापभानु आश्चर्य में भरकर सोचने लगा- 'आज तक मैंने असंख्य पशुओं का शिकार किया है, पर ऐसा विलक्षण पशु तो कभी दिखा ही नहीं, इसलिए इसे तो अवश्य ही मारूँगा। इसे मारने से तो मेरे निशानेबाजी की चारों ओर धूम मच जायगी। उसने बड़े उत्साह से निशाना साधा और बाण चलाया, पर शूकर बाण बचा गया। जीवन में पहली बार राजा का बाण निष्फल गया। इस विफलता से प्रतापभानु को क्रोध आ गया। मानो उसका असली रूप सामने आ गया। यदि सचमुच उसके जीवन से फलाकांक्षा मिट गयी होती, और समता आ गयी होती, तो आज वह यही सोचता कि 'तीर निशाने पर लग जाय तो ठीक और यदि न लगे तो ठीक'! पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। वह न तो 'सम' था और न ही निष्काम, वह तो बस! एक प्रदर्शन-प्रिय दंभी भर था।

आपने गीता में यह ध्यान दिया होगा कि भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते समय यह नहीं कहा कि 'तुम लड़ाई में जीतोगे, अपितु यह कहा कि अर्जुन! -

लाभालाभौ जयाजयौ। गीता-२

तुम्हें लाभ-हानि में तथा जय-पराजय में सम होना है। भगवान् कृष्ण का अभिप्राय है कि यह मत मान लो कि यदि आज विजय हो गयी तो फिर कभी हार नहीं होगी आज लाभ हो गया तो कभी हानि नहीं होगी।

इस तत्त्वज्ञान का सच्चा परिचय अर्जुन को महाभारत के युद्ध में नहीं मिला, क्योंकि वहाँ तो वह युद्ध जीत गया। इसका सच्चा अर्थ तो उस समय उन्हें ज्ञात हुआ जब वे द्वारका से गोपिकाओं, भगवान् कृष्ण के संबंधियों तथा धन इत्यादि को सुरक्षा प्रदान करते हुए वापस लौट रहे थे। मार्ग में किरात और भीलों ने उन पर आक्रमण कर दिया। उन्होंने अर्जुन को ललकारते हुए कहा - इन स्त्रियों और धन सम्पत्ति को छोड़ जाओ, अन्यथा हम लोग इन्हें छीनकर ले लेंगे। उनकी बातें सुनकर अर्जुन को लगा कि ये जंगली भील-किरात मुझे पहचानते नहीं हैं, इसलिए ऐसी धृष्टता कर रहे हैं। उनसे पूछा - तुम लोग यह जानते हो या नहीं कि मैं कौन हूँ? उन्होंने कहा कि हमें ज्ञात है कि आप अर्जुन हैं। "फिर भी तुम लोगों को इतना साहस हो गया कि मुझसे छीनकर लेने की बात कर रहे हो? अर्जुन ने आश्चर्य से पूछा! उन्होंने कहा कि यदि आप रोक सकते हैं तो रोक लीजिये! सचमुच वहाँ एक अनोखा दृश्य उपस्थित हो गया।

अर्जुन ने गांडीव चलाने की बात सोची, पर आश्चर्य! उनसे उस धनुष पर न तो डोरी चढ़ पा रही थी और न ही वे बाण चला रहे थे! अर्जुन के सामने ही इन कोल-किरातों ने सब कुछ लूट लिया। आज अर्जुन को इस बात का ज्ञान हुआ कि महाभारत के रणांगण में भगवान् कृष्ण ने उनसे यह क्यों नहीं कहा था कि - 'जब मैं तुम्हारे पास हूँ तो तुम्हे कौन हरायेगा, अपितु यह कहा था कि 'तुम्हें हानि-लाभ और जय-पराजय में सम रहना है।' अर्जुन के लिये यह कठिन परीक्षा की घड़ी थी, क्योंकि विजय काल में तो 'समता' दंभ से भी प्रदर्शित

की जा सकती है, पर असली परीक्षा तो पराजय के क्षण में भी समत्व में स्थित रहने में है।

प्रतापभानु अपने बाण को निष्फल होते देखकर तिलमिला उठा। यदि उसके जीवन में समता होती, तो ढेरों शिकार प्राप्त करने के बाद भी एक शूकर को नहीं मार पाने से वह इतना क्षुब्ध और क्रुद्ध नहीं होता। 'क्रोध क्यों आता है? इसे बताते हुए भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं कि -

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते।। गीता/२/६१

जब मन में कोई कामना होती है और यदि उस कामना की पूर्ति में कोई बाधा आती है तो व्यक्ति में क्रोध का भाव उत्पन्न होता है। क्रोध का एक स्वरूप तो यह है और दूसरा रूप है - लोककल्याण के लिये क्रोध करना, जहाँ अपनी कोई व्यक्तिगत आकांक्षा नहीं है। क्रोध का यह दूसरा रूप बहुत कम व्यक्तियों के जीवन में दिखायी देता है।

प्रतापभानु को क्रोध, निशाना चूक जाने से ही आ गया। जब-जब उसका तीर निशाने पर लगता था तो साथ के लोग 'वाह-वाह' करते थे, पर जब तीर नहीं लगा तो फिर कौन 'वाह-वाह' करे? प्रतापभानु क्रोध से भरकर उस शूकर का पीछा करता है-

रिस बस भूप चलेउ सँग लागा। १/१५६/४

उसने निश्चय किया कि मैं इसे मार कर ही रहूँगा। परिणाम हुआ कि उसके साथ के सेवक, मंत्री पीछे छूट गये। मानो यहाँ एक बहुत बड़ा व्यंग्य है, आप सफल हैं, तभी तक भीड़ आपके साथ है, पर जिस दिन आप निष्फल हो जायँगे उस दिन सब आपका साथ छोड़ देंगे। गोस्वामीजी कहते हैं कि प्रतापभानु उस वन में बिल्कुल अकेला हो गया-

अति अकेल बन बिपुल कलेसू।
तदपि न मृग मग तजइ नरेसू।।१/१५६/६

पर अकेला हो जाने पर भी वह मृग का पीछा करना नहीं छोड़ता और तब इस 'दंभी' राजा का एक कपटी मुनि से मिलन होता

है। आप जानते ही हैं कि 'जो नहीं है उसे दिखलाना' यह दंभ है और 'जो है उसे छिपाना' कपट है।

कपट-मुनि ही पराजित राजा था जो बदला लेने के लिये बेचैन था। आज उसे ऐसा अवसर प्राप्त हो जाता है, जिसकी उसे प्रतीक्षा थी। दोनों के बीच जब वार्तालाप होता है तो प्रतापभानु उससे अत्यधिक प्रभावित हो जाता है। कपटमुनि उसे अपने वश में जानकर उससे कहता है कि मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हें जो माँगना हो माँग लो। प्रतापभानु आज यह नहीं कहता कि 'मुझे कुछ भी नहीं चाहिये।' वह कहता है - महाराज! जब माँगने के लिये कह रहे हैं और यदि मैं न माँगू, यह तो आपका अनादर होगा, अतः सोचता है कि कुछ तो माँग ही लूँ और उस कुछ माँग को सुनकर कपट-मुनि मन-ही-मन खूब हँसा - वाह रे निष्काम राजा! तुम्हारे कुछ में तो सब कुछ ही समाया हुआ है। गोस्वामीजी लिखते हैं कि कपट-मुनि ने जब यह कहा कि-

अब प्रसन्न मैं संसय नाहीं।
मागु जो भूप भाव मन माहीं।। १/१६३/५

तो प्रतापभानु ने कहा- महाराज! आप ऐसी कृपा कर दें कि जिससे मैं कभी बूढ़ा न होऊँ, कभी मरूँ नहीं, युद्ध में मुझे कोई हरा न सके और सौ कल्प तक मेरा एक छत्र राज्य बना रहे।

प्रतापभानु के मन में कामनाओं की जो गठरी छिपी हुई थी वह सामने आ गयी। कपट-मुनि ने उसके इस 'लोभ' का ही 'लाभ' लिया। ठग तो ठग होता ही है, पर ठगा जाने वाला भी तो अपने लोभ के कारण ठगा जाता है। समाचार पत्रों में बहुधा इस तरह के समाचार आते ही रहते हैं कि किसी साधु-वेषधारी व्यक्ति ने नोट और गहने दूना बनाने के बहाने ठग लिया, तो जिसने ठग लिया, वह व्यक्ति साधु नहीं हो सकता, वह तो हड़पने के लिये ही आया होगा, पर जो व्यक्ति दस मिनट में अपने नोटों को दूना बनवाना चाहता है, वह कोई कम लोभी है क्या? वस्तुतः दोनों एक ही जैसे हैं। यह तो बुद्धिमान् ठग और मूर्ख लोभी की लड़ाई है और इसमें बुद्धिमान् ठग तो जीतेगा ही।

कपटमुनि ने प्रतापभानु से कहा - राजन्! यह सब हो सकता है, बस केवल ब्राह्मण के शाप का ही भय है। पर तुम चिन्ता मत करो,

उसका भी एक उपाय मेरे पास है। मैं यदि भोजन बना दूँ और तुम उसे ब्राह्मणों को खिला दो तो इससे वे तुम्हारे वश में हो जायँगे और वे तुम्हें आशीर्वाद दे देंगे जिससे तुम अजर-अमर हो जाओगे। विवेकहीन और लोभी व्यक्ति ऐसी बातों में विश्वास भी कर लेते हैं और परिणाम में हानि ही उठाते हैं और दुःख पाते हैं।

कुछ समय बाद कालकेतु राक्षस प्रतापभानु के पुरोहित का वेष बनाकर आता है। वह भोजन तैयार करता है। उस भोजन में वह विप्र-मांस भी मिला देता है और फिर माया से उसे अन्न के विविध व्यंजनों का रूप दे देता है। प्रतापभानु पूरे ब्राह्मण समाज को निमंत्रित करता है। उन्हें आसन प्रदान करता है, उनकी पूजा करता है और फिर सबको भोजन परोसता है। फिर वर्णन किया गया कि जब ब्राह्मण भोजन करने के लिये प्रस्तुत होते हैं तो अचानक आकाशवाणी होती है जिसमें एक आदेश था-

बिप्रबृंद उठि उठि गृह जाहू।१/१७२/६

ब्राह्मणों आप अपने-अपने घरों को लौट जाइये।

है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू।

भयउ रसोईं भूसुर माँसू। १/१७२/६,७

आप लोग जिसे अन्न समझ रहे हैं, वह अन्न नहीं मांस है, अतः इसे ग्रहण न करें। सुनकर ब्राह्मणों! को क्रोध आ गया और क्रोध का परिणाम कितना भयंकर हो सकता है, यह इस प्रसंग में हमें दिखायी देता है।

ब्राह्मण यद्यपि सात्त्विक वृत्ति के हैं, पर उन्हें यह सोचकर क्रोध आ गया कि यह राजा मांस खिलाकर हमारा धर्म-नष्ट करना चाहता था, आकाशवाणी से जो आदेश हुआ था उसमें तो अन्न न खाने की तथा अपने-अपने घर लौट जाने की बात कही गयी थी, पर यहाँ यह दिखायी देता है कि ब्राह्मणों ने इस आदेश का पालन विचारपूर्वक नहीं किया। यदि वे ऐसा करते तो एक बहुत बड़ा अनर्थ टल गया होता। ब्राह्मणों को क्रोध आ गया और उन्होंने बिना ठीक से विचार किये राजा को शाप भी दे दिया-

बोले बिप्र सकोप तब नहिं कछु कीन्ह बिचार।

जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार।।१/१७३

अरे राजा! तू दुष्ट और मूर्ख है इसलिये हम तुम्हें शाप देते हैं कि जा! तू परिवार सहित राक्षस हो जा।

इस शाप में विवेक था क्या? शाप देने से पहले ब्राह्मणों को क्या यह पता नहीं लगा लेना था कि प्रतापभानु ने यह सब क्यों और कैसे किया? उसके अपराध का मूल कारण क्या था? पर वे सब ऐसा नहीं करते। चलिये! राजा का अपराध था भी तो उस एक व्यक्ति के अपराध के लिये सारे परिवार को राक्षस हो जाने का शाप देना क्या उचित था? उसके परिवार ने क्या अपराध किया था? पर आवेश में आकर विप्रों ने सब को ही शाप दे डाला।

शाप का प्रयोग यदि एक अस्त्र के रूप में, अपराध मिटाने के लिये करना है, तो ऐसा किया जा सकता है, पर उसका उपयोग एक विवेकवान् शल्य-चिकित्सक की भाँति ही करना चाहिये न कि एक हत्यारे की तरह करना चाहिये। यद्यपि दोनों के ही हाथ में छूरी दिखायी देती है, दोनों उसका प्रयोग भी करते हैं, पर चिकित्सक सावधानी से रोगी के शरीर से उतना ही भाग काटता है कि जिससे रोगी का रोग दूर हो और वह पुनः स्वस्थ जीवन व्यतीत कर सके। पर हत्यारा तो मनमाने ढंग से व्यक्ति के शरीर पर प्रहार करता है, क्योंकि उसका उद्‌देश्य प्राण बचाना न होकर प्राण लेना ही होता है। समाज को स्वस्थ बनाने का उद्‌देश्य लेकर शाप का सदुपयोग भी किया जा सकता है, पर ब्राह्मणों के शाप का स्वरूप ऐसा नहीं दिखायी देता।

प्रतापभानु स्वभाव से तो अपराधी नहीं था। इसलिए उससे अपराध होता हुआ दिखायी देने पर, उचित तो यही होता कि विप्र-समाज पहले उससे प्रश्न करता कि 'ऐसा क्यों हुआ?' और उसके बाद उचित पद्धति से ही उसके लिये दण्ड की व्यवस्था की जाती। आज भी समाज में एक व्यक्ति जब किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति कोई अपराध करता है, अन्याय करता है, तो प्रभावित व्यक्ति के मित्र या सम्बन्धी उस अन्याय का दण्ड स्वयं न देकर न्यायालय का आश्रय लेते हैं। यदि क्रोध के कारण वे बदला लेने के लिये स्वयं दण्ड देने की भूल

करते हैं तो वे भी न्यायालय के द्वारा दण्ड के पात्र माने जाते हैं। इस प्रकार दण्ड का अधिकार तो न्यायालय को ही है, व्यक्ति या उसके परिवार के पास नहीं है। ब्राह्मणों को भी दण्ड देने का अधिकार नहीं था, इसलिये फिर से आकाशवाणी हुई और भगवान् ने इसके माध्यम से कहा-

बिप्रहु श्राप बिचारि न दीन्हा।१/१७३/५

आप लोगों ने विचारपूर्वक शाप नहीं दिया। मानो इसका संकेत यह था कि मैंने जो आदेश आपको दिया था, उसका पालन करना चाहिये था और इसके अपराध का दण्ड मेरे ऊपर छोड़ देना चाहिये था। पर न्याय का भार मेरे ऊपर न छोड़कर आप लोगों ने ही इसे दण्ड देने का निर्णय ले लिया! यह तो ठीक नहीं हुआ। और सचमुच, यह कार्य स्वयं ब्राह्मणों के लिये भी बड़ा दुःखदायी सिद्ध हुआ।

प्रतापभानु दूसरे जन्म में रावण बना और उसके परिवार के सब लोग भी राक्षस बन गये। इनके कारण सारे संसार के लोगों को कष्ट उठाना पड़ा और सबसे ज्यादा कष्ट तो ब्राह्मणों को ही भोगना पड़ा। इससे यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि क्रोध का वह अतिरेक अच्छा नहीं है, जो दूसरे व्यक्ति को राक्षस बना दे, क्योंकि ऐसी स्थिति में राक्षस बनने पर वह तो क्रोध करने वाले को ही खाने की चेष्टा करेगा। अपने क्रोध से किसी व्यक्ति को और अधिक बुरा बना देना, यह तो क्रोध का सदुपयोग नहीं है। हम देखते हैं कि इस जन्म में रावण का जितना भी व्यवहार था, वह उसके पुनर्जन्म के जीवन की प्रतिक्रिया ही थी। वह सोचता है कि मैंने इनके लिये भोजन की व्यवस्था की थी और इसके द्वारा इन्हें प्रसन्न करना चाहता था। इस बीच जो षड्यन्त्र रचा गया उसका मुझे ज्ञान भी नहीं था, फिर भी मुझे इन लोगों ने शाप दे दिया इसलिये मैं अब इन लोगों को ही खाऊँगा। क्रोध की प्रतिक्रिया में ऐसी वृत्ति व्यक्ति और समाज में उत्पन्न हो जाती है। अतः इसका अर्थ यही है कि क्रोध का विवेक-संगत होना परम आवश्यक है।

न्यायाधीश जब अपराधी को दण्ड देता है तो वह क्रोध में आकर निर्णय नहीं देता है। न्याय-व्यवस्था में ऐसा विधान भी है कि यदि न्यायाधीश के व्यवहार से लगे कि वह अभियुक्त से पहले से ही

नाराज है, तो अभियुक्त की प्रार्थना पर उसका मुकदमा किसी दूसरे न्यायाधीश के न्यायालय में भेजा जा सकता है। इसलिये हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि हमारा क्रोध हमारे लिये ही महँगा सिद्ध न हो।

क्रोध के दो स्वरूप हमारे सामने आते हैं। भगवान् शंकर के क्रोध के मूल में विवेक है जिसका परिणाम यह होता है कि भुशुण्डिजी अंत में भक्त-शिरोमणि बन जाते हैं। ब्राह्मणों के क्रोध के मूल में विवेक का सर्वथा अभाव है, इसलिए उनके शाप के परिणाम में प्रतापभानु सपरिवार राक्षस बनकर संसार को पीड़ित करता है। इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि अपराध तो बुरा है ही पर अविचारपूर्वक दिया गया दण्ड भी उतना ही बुरा है।

रामायण के अनेक पात्रों के चरित्र में हमें क्रोध का विविध रूप दिखायी देता है तो उसका एक दूसरा स्वरूप लक्ष्मणजी में भी प्रकट होता है। रावण के जीवन में भी क्रोध पग-पग पर बहुत अधिक मात्रा में दिखायी देता है। क्रोधित रावण किसी को क्षमा नहीं करता। शूर्पणखा उसकी बहन है, पर एक बार जब उसके पति ने रावण के सामने सिर उठाकर रावण को उत्तर देने की चेष्टा की तो वह क्रोध से भर गया और उसने अपने ही जीजाजी का सिर काटने में कोई संकोच नहीं किया। गीधराज ने सीताजी की रक्षा करने के लिये जब उसे चुनौती दी तो उसने क्रोध में आकर उनके पंख काट दिये। विभीषणजी ने उसके कल्याण की बात कही, पर उसका स्वभाव ऐसा है कि इतनी अच्छी बात कहने पर भी वह क्रुद्ध हो उठा और अपने भाई को लात मारकर लंका से निकाल दिया। रावण का क्रोध प्रतिक्रियाजन्य क्रोध है। परशुरामजी महाराज के जीवन में भी क्रोध विद्यमान है पर उन्होंने अन्याय को मिटाने के उद्देश्य से ही अपने जीवन में क्रोध को स्वीकार किया।

कथा आती है कि सहस्त्रार्जुन ने परशुरामजी के पिता जमदग्नि ऋषि का सिर अन्यायपूर्वक काट दिया। परशुराम जी ने जब देखा कि उसके इस जघन्य कार्य का, उस समय के क्षत्रिय राजाओं ने कोई विरोध नहीं किया, तो उन्होंने यह निर्णय लिया कि मैं सहस्त्रार्जुन के साथ-साथ इन सब राजाओं को भी दण्ड दूँगा। उनका उद्देश्य तो

अच्छा था पर वहाँ पर भी क्रोध का अतिरेक हो गया।

परशुरामजी का तर्क था कि जो अन्याय करता है वह दण्ड का पात्र तो है ही पर जो अन्याय को देखकर चुप रह जाय उसको भी अवश्य ही दण्ड मिलना चाहिए। यद्यपि परशुराम जी के द्वारा क्रोध, प्रारंभ में तो अन्याय को मिटाने और लोक-कल्याण के लिये ही स्वीकार किया गया था, पर धीरे-धीरे वह उनके स्वभाव का अंग बन गया। वे यह मानने लगे कि क्रोध के द्वारा मनुष्य को डराया जा सकता है और बुराई करने से रोका जा सकता है। यह बात यद्यपि ठीक प्रतीत होती है पर समस्या तब आती है कि जब क्रोध भीतर बैठ जाय और इतना अधिक बढ़ जाय कि वह दुःख देने लगे। परशुरामजी का क्रोध भी अंत में बढ़कर आतंक और भय की सृष्टि करने लगा और वह दुःखदायी बन गया।

गोस्वामीजी ने परशुरामजी के क्रोध की तुलना नदी से की। नदी जीवनदायिनी है और बड़ी उपयोगी है। आप उसके जल को पी सकते हैं, उसमें कपड़े धो सकते हैं, नहा सकते हैं तथा और भी अन्य उपयोग में ला सकते हैं। पर जब उस नदी में बाढ़ आ जाती है तो वही नदी तब विनाश करने लगती है। वह अपने किनारे के गाँवों को डुबो देती है, पशुओं को बहा ले जाती है और फसल इत्यादि को नष्ट कर देती है। उसी प्रकार परशुरामजी की क्रोधरूपी नदी में बाढ़ आ गयी इसलिये जब किसी ने गोस्वामीजी से पूछा कि परशुराम के रूप में एक 'राम' तो थे ही फिर दूसरे भगवान् राम की आवश्यकता क्यों पड़ गयी? परशुरामजी भी अवतार ही हैं, वे ही रावण को दण्ड दे देते? गोस्वामीजी ने इसका उत्तर देते हुए कहा - 'क्योंकि परशुरामजी रूपी नदी में क्रोध की बाढ़ आगयी इसलिये भगवान् राम को बाँध बनकर आना पड़ा।'' गोस्वामीजी कहते हैं -

घोर धार भृगुनाथ रिसानी।
घाट सुबद्ध राम बर बानी।। १/४०/४

भगवान् राम ने अपनी बाणी के द्वारा ऐसे सुदृढ़ बाँध का निर्माण कर दिया कि जिससे परशुरामजी की क्रोध रूपी नदी का उफान बिलकुल शान्त हो गया।

भगवान् राम परशुरामजी के साथ वार्तालाप करते समय बड़ी सावधानी से बोलते हैं। भगवान् राम 'वचन-रचना' में भी अत्यन्त कुशल हैं। इस समय तो उन्हें बाँध का निर्माण करना है न! इसलिये जैसे बाँध बनाते समय यह ध्यान रखा जाता है कि कहीं से भी कमजोरी न रह जाय, भगवान् राम भी बड़ी सावधानी से, श्रेष्ठ वाणी के द्वारा एक सुदृढ़ बाँध का निर्माण करते हैं।

हम देखते हैं कि सचमुच परशुरामजी में क्रोध की बाढ़ आ गयी थी। अन्याय करने वाले को दण्ड देना तो उचित है पर एक व्यक्ति के अपराध के कारण उन्हें पूरी जाति और समाज पर क्रोध आ गया। इतना ही नहीं, एक क्षत्रिय राजकुमार के द्वारा शिव-धनुष टूट जाने का समाचार सुनकर क्रुद्ध होकर वे तमतमाये हुये धनुष-मंडप में आये। उस समय तक सीताजी के द्वारा भगवान् राम के गले में जयमाल भी पड़ चुका था और टूटा हुआ धनुष नीचे पड़ा हुआ था। गोस्वामीजी उस सभा का बर्णन करते हुए कहते हैं कि भगवान् राम के द्वारा धनुष टूट जाने के बाद भी उपस्थित राजाओं का एक बहुत बड़ा समूह, यह योजना बना रहा था कि इस राजकुमार को हराकर हम बलात् सीता को छीन लेंगे! इससे सीता का विवाह किसी प्रकार भी नहीं होने देंगे! वस्तुतः भगवान् राम से धनुष इतनी सरलता से टूट गया था कि इन राजाओं को यह इन्द्रजाल या कोई जादूगरी ही लग रही थी। वे समझ ही नहीं पा रहे थे कि यह क्या हुआ? वे मानने को तैयार ही नहीं थे कि इस राजकुमार ने धनुष तोड़ा है। ठीक उसी समय परशुरामजी महाराज आ गये। अब तो उस सभा का दृश्य ही बदल गया। वे राजा जो अभी लड़ने की तैयारी कर रहे थे, सब-के-सब अपना और अपने-अपने पिता का नाम ले-लेकर साष्टांग प्रणाम करने लगे। प्रणाम करने की ऐसी पद्धति पुरानी परम्परा में विद्यमान थी।

मैं सोचता हूँ कि प्रणाम करते समय आज भी अपना और अपने पिता का नाम अवश्य बताना चाहिये। मैं तो इस संबंध में कई बार बहुत संकट का अनुभव करता हूँ। सारे देश में भ्रमण करते समय कई ऐसे लोग भी मिल जाते हैं जो पहले कभी कथा में आये रहे होंगे या कहीं मिले रहे होंगे। वे यह आशा करते हैं कि 'मैं उन्हें पहचान लूँ।'

अब स्थान-स्थान पर इतनी बड़ी संख्या में लोग मिलते हैं कि सबके नाम तो याद नहीं रह सकते। कई व्यक्ति जब मुझसे पूछ देते हैं कि आपने मुझे पहचाना? तो उस समय मैं सोचता हूँ कि क्या कहूँ? यदि नहीं पहचाना कहूँ, तो उन्हें बुरा लगेगा- वाह! ये मुझे नहीं पहचान रहे हैं? हाँ, हाँ! पहले देखा है। यदि इतना सुनकर वे शान्त हो जायँ, तो उनकी कृपा! पर कई व्यक्ति इसके बाद भी पूछ देते हैं - तो मेरा नाम बताइये। ऐसी स्थिति में मैं बड़े संकट में पड़ जाता हूँ, क्योंकि नाम तो बता नहीं पाता! इसलिये मुझे लगता है कि पुरानी परम्परा बहुत बढ़िया थी। प्रणाम करने वाले व्यक्ति साथ-साथ अपना परिचय भी दे दिया करते थे।

'मानस' में वर्णन आता है कि भगवान् राम ने जब सतीजी को प्रणाम किया तो इसी परम्परा का पालन किया। गोस्वामीजी कहते हैं कि -

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू।
पिता समेत लीन्ह निज नामू।। १/५२/७

भगवान् राम ने हाथ जोड़कर प्रणाम करते समय यह कहा कि 'मैं दशरथ का पुत्र राम आपको प्रणाम करता हूँ।' परशुरामजी आये तो प्रणाम करने वालों की भीड़ लग गयी। सभी कहने लगे कि मैं अमुक राजा का पुत्र हूँ, जिसे आपने क्षमा कर दिया था, अब आप मेरे ऊपर भी कृपा कीजिये। यदि परशुरामजी, उसका परिचय सुनकर, सहज भाव से भी उसकी ओर देख देते तो वह राजा भयभीत हो जाता -

जेहिं सुभायँ चितवहिं हितु जानी।
सो जानइ जनु आइ खुटानी।। १/२६८/३

वह सोचता था कि 'अब तो प्राण गये!' परशुरामजी का स्वभाव इतना क्रोधपूर्ण हो गया था।

विश्वामित्रजी भगवान् राम और श्री लक्ष्मण को लेकर परशुरामजी के निकट गये। विश्वामित्रजी एवं परशुरामजी दोनों ही महान् विभूति तो थे ही, संबंधी भी थे। दोनों गले मिले फिर विश्वामित्रजी ने राम-लक्ष्मण से कहा - इन्हें प्रणाम करो! दोनों भाइयों ने प्रसन्नतापूर्वक परशुरामजी को दण्डवत् प्रणाम किया। परशुरामजी ने

आशीर्वाद देने के लिये जब उनकी ओर देखा, तो जीवन में पहली बार वे अपना क्रोध कुछ क्षणों के लिये भूल गये। उन्हें लगा कि ये तो बड़े सुन्दर हैं! कौन हैं ये दोनों राजकुमार? कहाँ से आये हैं? परशुरामजी ने बड़े प्रेम से उन्हें आशीर्वाद दिया। गोस्वामीजी लिखते हैं -

बिस्वामित्र मिले पुनि आई।
पद सरोज मेले दोउ भाई।।
रामु लखनु दसरथ के ढोटा।
दीन्हि असीस देखि भल जोटा।।
रामहिं चितइ रहे थकि लोचन।
रूप अपार मार मद मोचन।।१/२६८/६,८

भगवान् राम पर तो उनकी दृष्टि ही अटक गयी, बस देखते ही रह गये। अब यदि वे भगवान् राम को देखते रह जाते, तब तो सारा झगड़ा ही समाप्त हो जाता, क्योंकि उस समय वे अपना क्रोध भूल गये थे। पर राम को देखते-देखते अचानक उनकी दृष्टि टूटे हुए धनुष पर पड़ गयी-

देखे चाप खंड महि डारे। १/२६९/२

गोस्वामीजी यहाँ बड़ा सुन्दर सूत्र देते हैं। भगवान् राम हैं 'अखण्ड' क्योंकि ब्रह्म तो अखण्ड होता है-

ग्यान अखंड एक सीताबर। ७/७७/४

और संसार में सब कुछ खंड-खंड रूप में ही दिखायी देता है। देश, प्रान्त, जाति, भाषा, व्यक्ति और परिवार आदि सब अलग-अलग हैं और सबके साथ व्यक्ति के संबंध भी अलग-अलग हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि ज्योंही परशुरामजी ने-

देखे चापखंड महि डारे। १/२६९/२

खंडित धनुष को देखा, त्योंही उन्हें फिर से क्रोध आ गया। संकेत यही है कि अखण्ड को देखियेगा तो क्रोध शांत हो जायगा और खण्ड को देखियेगा तो क्रोध आये बिना नहीं रहेगा। अगर यह दिखायी दे जाय कि 'अखण्ड ईश्वर सबके हृदय में विद्यमान है, तो कोई झगड़ा नहीं होगा, पर जब यह दिखायी दे कि 'यह तो मेरे प्रान्त का नहीं है, मेरी जाति का नहीं है अथवा मेरा संबंधी नहीं है, तब तो क्रोध आयेगा ही।

क्योंकि क्रोध तो इसी खण्ड-वृत्ति और भेद-बुद्धि से ही उत्पन्न होता है।

परशुरामजी को खण्डित धनुष को देखकर इतना अधिक क्रोध आया कि उनकी वाणी में कठोरता आ गयी और कड़वापन आ गया। आवेश का यही सबसे बुरा रूप है कि जब व्यक्ति बिना सोचे-समझे बोलने लगता है, बकने लगता है। परशुरामजी की स्थिति भी कुछ ऐसी ही दिखायी देती है। जनकजी से प्रश्न करते समय गोस्वामीजी उनकी क्रोधपूर्ण स्थिति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि -

अति रिस बोले बचन कठोरा।१/२६६/३

वे जनकजी से यह नहीं पूछते कि 'जनक'! धनुष किसने तोड़ा? अपितु वे क्रोध में भरकर कहते हैं -

कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा। १/२६६/३

अरे मूर्ख जनक! जनकजी को मूर्ख कहे बिना भी यह प्रश्न पूछा जा सकता था! जनकजी जैसे महान् ज्ञानी को, जिनसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करने बड़े-बड़े मुनिगण आते हैं, 'मूर्ख' कहना तो उचित प्रतीत नहीं होता। परशुरामजी इतने अधीर हैं कि जनकजी कुछ उत्तर दें इससे पूर्व ही वे स्वयं फिर से बोलने लगते हैं और कहते हैं कि -

बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू।
उलटउँ महि जहँ लगि तब राजू।। १/२६६/४

जल्दी बताओ! नहीं तो जहाँ तक तुम्हारा राज्य है, वहाँ तक की पृथ्वी को मैं उलट-पुलट दूँगा। यही है क्रोध का अतिरेक! वे एक राजा को दण्ड देने के लिये सारे राज्य को नष्ट करने के लिये उद्यत हो जाते हैं।

जनकजी डर के मारे बोल नहीं पाते हैं। वे सोचते हैं कि इन्हें क्या उत्तर दूँ? क्योंकि संयोग ऐसा था कि जिस समय परशुरामजी ने यह प्रश्न पूछा, उस समय श्रीराम परशुरामजी के सामने ही खड़े हुए थे। भगवान् राम को देखकर परशुरामजी को ऐसा लगा ही नहीं कि इस राजकुमार ने धनुष तोड़ा होगा! उन्हें तो यही लगा कि यह नन्हा-सा सुंदर, सुकुमार बालक, जैसे बच्चे मेला-उत्सव देखने आते हैं, उसी तरह

इधर आ गया होगा। किन्तु जनकजी भयभीत हो गये कि यह ज्ञात हो जाने पर कि श्रीराम ने ही धनुष तोड़ा है, न जाने वे क्या कर बैठें? और जो बुरे राजा थे, वे सब प्रसन्न हो गये।

गोस्वामीजी लिखते हैं कि ये बुरे स्वभाव वाले राजागण जब धनुष तोड़ने के लिये जाते थे, तो चलते समय, कोई गणेशजी से, तो कोई विष्णुजी से, प्रार्थना आवश्य करते थे। वे कहते थे - हमसे धनुष तुड़वा दीजिये। पर उनकी प्रार्थना प्रतिफलित होती हुई दिखायी नहीं देती थी, क्योंकि धनुष तो किसी से टूट नहीं पा रहा था। वे बेचारे निराश होकर लौटते, तो उस समय अपने-अपने इष्ट देव से फिर एक दूसरी प्रार्थना करते थे कि 'आपने हमसे तो धनुष तुड़वाया नहीं, पर इतनी कृपा तो अवश्य कीजिये कि अब वह धनुष किसी से भी न टूटने पाये!'' पर जब शिव-धनुष भगवान् राम के हाथों टूट गया, तो वे सब-के-सब राजा लोग अपने-अपने इष्ट देवों से नाराज हो गये और लगे उलाहना देने - आपने हमसे तो तुड़वाया नहीं, यही राजकुमार बचा था तुड़वाने के लिये? आपने तो हमारी नाक ही कटवा दी, अब हम नहीं करेंगे आपकी पूजा! पर जब परशुरामजी ने यह कहा कि 'हम धनुष तोड़ने वाले का सिर काट डालेंगे' तो उन कुटिल राजाओं ने प्रसन्न होकर अपने-अपने इष्ट देवों को धन्यवाद दिया - महाराज! आपने बड़ी कृपा की जो हमसे धनुष नहीं तुड़वाया, क्योंकि यदि आपने तुड़वा दिया होता तो अब सिर ही कट जाता।''

पर भगवान् राम की मनःस्थिति इन सबसे सर्वथा भिन्न है, न उनमें हर्ष है और न ही विषाद है। पर जब उन्होंने देखा कि सभी सभासद भयभीत हैं और जानकीजी के नेत्रों में भी व्याकुलता है तो वे परशुरामजी को उत्तर देने के लिये प्रस्तुत हो जाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि-

समय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीरु।
हृदयँ न हरषु बिषादु कछु बोले श्री रघुबीरु।। १/२७०

तब प्रभु ने वाणी के संयम का ऐसा बढ़िया बाँध बनाया जो किसी प्रकार से तोड़ा न जा सके। भगवान् राम परशुरामजी से कहते हैं-

नाथ संभु धनु भंजनिहारा।
होइहि केउ एक दास तुम्हारा।। १/२७०/१

महाराज! शंकरजी का धनुष तोड़नेवाला आपका कोई एक दास होगा। प्रभु का तात्पर्य है कि धनुष तोड़नेवाला शंकरजी का विरोधी होगा, आप ऐसी कल्पना भी मत कीजिये। आप शंकरभक्त हैं, तोड़नेवाला जब आपका दास होगा, तो फिर वह भगवान् शंकर का विरोधी कहाँ से हो गया?

भगवान् राम परशुरामजी से उस प्रकार भी वार्तालाप कर सकते थे जैसा कि क्रोध में बहुधा लोग किया करते हैं। उत्तर देते समय एक क्रोधित व्यक्ति यही तो कहता है कि तुमने समझ क्या रखा है? मैं अभी तुम्हारी खबर लेता हूँ। सामनेवाला व्यक्ति भी उत्तेजित होकर यही कहता है कि अच्छा दिखाओ! फिर मैं भी तुम्हें मजा चखाऊँगा! प्रभु उस शैली में नहीं बोलते। वे पूछते हैं- महाराज! आपने धनुष के टूटने को इतना बुरा क्यों मान लिया? तोड़ने वाला तो आपका दास ही होगा! भगवान् राम यह नहीं कहते हैं कि मैंने तोड़ा है। प्रभु की वाणी को सुनकर परशुरामजी को यही लगता है कि यह बालक बड़ा शीलवान् है और तोड़नेवाले को बचाने के लिये ही ऐसा बोल रहा है। पर भगवान् राम का तात्पर्य है कि महाराज! पहले यह तो विचार कर लेना चाहिये कि तोड़ने वाला क्रोध का पात्र है भी या नहीं, और तब क्रोध नहीं करना चाहिये। और भगवान् राम जो वाक्य कहते हैं कि महाराज!-

होइहि केउ एक दास तुम्हारा। १/२७०/१

तोड़नेवाला तो यहाँ है ही नहीं, अब तो आपके सामने आपका एक दास खड़ा है यह जीवन का विशिष्टतम सूत्र है।

भगवान् राम का संकेत है कि आप जब तक किसी काम को कर रहे हैं, बस! उसी समय तक अपने आप को कर्ता स्वीकार कीजिये और उस काम के संपन्न होते ही यह भुला दीजिये कि आप उस काम के करने वाले हैं। काम पूरा हो जाने के बाद कर्तापन का भी त्याग कर देना चाहिये, यही बात प्रभु अपने इस वाक्य से बताना चाहते हैं। समाज में भी हमें यह दिखायी देता है, कि जैसे एक न्यायाधीश, न्यायालय की कुर्सी पर आसीन रहते तक न्यायाधीश बना रहे तब तो

कोई बात नहीं, पर वह न्यायालय से वापस आकर घर में, पत्नी और बच्चों के बीच भी यदि न्यायाधीश की तरह ही व्यवहार करेगा, तब तो घर में झगड़ा हुए बिना नहीं रहेगा। उस व्यक्ति को घर में आकर यह तो भूलना ही पड़ेगा कि मैं न्यायाधीश हूँ। घर में तो उसे यही याद रखना होगा कि मैं पिता हूँ, पति हूँ या पुत्र हूँ।

भगवान् राम यही बताना चाहते हैं कि धनुष टूट गया तो उसके साथ उसका तोड़ने वाला भी चला गया, अब तो आपके समक्ष, आपकी जो आज्ञा हो, उसे पालन करनेवाला एक सेवक खड़ा है। पर परशुरामजी भगवान् राम की भाषा समझ नहीं पाते वे कहते हैं - तुम शीलवान् लगते हो, पर मैं तुम्हारी बातों से प्रभावित होने वाला नहीं हूँ। मैं तुम्हें यह बता देना चाहता हूँ कि धनुष तोड़नेवाला तो सहस्त्रार्जुन की भाँति ही मेरा शत्रु है और यदि वह अलग होकर खड़ा नहीं हो जाता तो मैं सबको मार दूँगा। भगवान् राम तो सबसे अलग ही खड़े थे, पर परशुरामजी की समस्या यही है कि वे समझ नहीं पाते कि भगवान् राम ने ही धनुष तोड़ा है। इसलिये अब श्री लक्ष्मण सामने आते हैं।

हमें क्रोध का एक रूप लक्ष्मणजी के भी जीवन में दिखायी देता है क्रोध के दो स्वरूप हैं - एक भूतवादी क्रोध और दूसरा भविष्योन्मुख क्रोध। जो बात हो चुकी, उस पर किये जाने वाले क्रोध को हम भूतवादी क्रोध कह सकते हैं। ऐसे क्रोध से कोई लाभ तो होता नहीं, हानि ही होती है। अतः इससे बचना चाहिये। लोग भूत-प्रेत से बचना चाहते हैं, पर जब क्रोध का भूत आता है तो उसे हटाने की चिन्ता ही नहीं करते। भूत से जुड़ा यह क्रोध मानो भूत बनकर ही आता है और ऐसे क्रोधी की स्थिति को देखने से लगता भी यही है कि मानो उस पर भूतोन्माद ही आ गया हो। इस संदर्भ में वृंदावन का संस्मरण नहीं भूलता।

मैं वृन्दावन गया, उस समय मेरी अवस्था छोटी ही थी। वहाँ आश्रम में एक विद्वान् पंडित जी थे। प्रभु ने मेरे माध्यम से प्रवचन कार्य प्रारंभ करा दिया था। मेरे द्वारा जो कथा होती थी उसे वे पंडितजी भी बड़े ध्यान से सुना करते थे, खूब आनंद लेते थे और बीच-बीच में झूमते थे। स्वाभाविक रूप से मेरा ध्यान बार-बार उनकी ओर जाता था।

दो-तीन दिन बाद महाराजश्री ने मुझसे कहा कि तुम कथा के समय उन पंडितजी की ओर ज्यादा मत देखा करो! मैंने निवेदन किया - महाराज! जो रसपूर्वक सुनता है उसकी ओर ध्यान तो जाता ही है।

महाराजश्री ने कहा - भले ही वे अब झूमते हुए दिखायी देते हैं, पर अगर कोई पुरानी बात याद आ गयी तो वे ऐसा रूखा व्यवहार करने लगेंगे कि पूछो ही मत! तुम तो इस आशा से उनकी ओर देखोगे कि वे कथा-रस में विभोर हो रहे होंगे, पर तब हो सकता है कि वे अपना मुँह दूसरी ओर घुमा लें, और तब उस समय तुमको यह डर लगने लगेगा कि कहीं कथा में कोई त्रुटि या गड़बड़ी तो नहीं हो रही है? इसलिये कथा के प्रभाव का केन्द्र उनको कभी भी मत बनाना। बाद में उन पंडितजी के स्वभाव की अन्य विचित्रताओं का भी पता चला।

वे यदि किसी को अंगूर खाते हुए देख लेते, तो कभी-कभी उन्हें इसी बात से क्रोध आ जाता था। उस व्यक्ति से भले ही कुछ न कहें, पर यदि कोई दूसरा व्यक्ति उनकी मुद्रा देखकर कारण पूछ देता था तो वे उस अंगूर खाने वाले व्यक्ति का नाम लेकर कहते थे कि उस गधे को तो अंगूर तक खाना नहीं आता, चने की तरह चबाये जा रहा है। पंडितजी प्रायः अपने भोजन को लेकर भी क्रोधित होते रहते थे। भोजन स्वादिष्ट होना चाहिये, सही ढंग से परोसा जाना चाहिये और रसोइये का व्यवहार कैसा होना चाहिये? आदि भोजन से जुड़ी उनकी बड़ी विचित्र-विचित्र मान्यताएँ और शर्तें थीं। भोजन बनाने में, परोसने में या बात-व्यवहार में यदि रसोइये से जरा-सी भूल हो जाती तो उनको तुरंत क्रोध आ जाता था। पर यदि दूसरे दिन भोजन बहुत अच्छा बन जाता तो उस दिन पंडितजी का क्रोध चौगुना बढ़ जाता था। वे रसोइये से कहते- आज कैसे अच्छा भोजन बन गया? इसका अर्थ है कि तू अच्छा भोजन बनाना जानता है, पर कल तूने जान-बूझकर बिगाड़ दिया था। बताइए! जब ठीक भोजन न बने तो क्रोध आ जाय, बढ़िया भोजन बनने पर भी क्रोध आ जाय, तो ऐसा क्रोध क्या उपयोगी और कल्याणप्रद हो सकता है? भूतवादी क्रोध से परशुरामजी भी आक्रान्त दिखायी देते हैं।

परशुरामजी के क्रोध को देखकर लक्ष्मणजी सोचते हैं कि इनकी

यदि धनुष के प्रति इतनी अधिक ममता थी, तो जिस समय जनकजी ने प्रतिज्ञा की थी, उसी समय आकर उनसे कह देना चाहिये था कि तुम प्रतिज्ञा करने वाले कौन होते हो? याद रखो! यदि किसी ने इसे तोड़ दिया तो मैं उसे दण्ड दूँगा। पर वे उस समय तो आये नहीं और अब धनुष टूटने के बाद चले आ रहे हैं। इसीलिए आगे चलकर लक्ष्मणजी ने परशुरामजी से यही कहा- महाराज! यदि आपके क्रोध करने से धनुष जुड़ जाय तो अवश्य क्रोध कीजिये। पर आपके द्वारा इतना क्रोध करने के बाद भी धनुष तो ज्यों का त्यों पड़ा हुआ है, वह तो जुड़ता हुआ दिखायी नहीं देता। हाँ! क्रोध के कारण आप इतनी देर से खड़े हैं इसलिये आपके पैरों में दर्द अवश्य हो रहा होगा, अतः महाराज! आप शान्त होकर जरा बैठ जाइये -

टूट चाप नहिं जुरिहि रिसाने।
बैठे होइहिं पाय पिराने।। १/२७७/२

इसका संकेत यही है कि भूतवादी क्रोध का दुष्परिणाम यह भी है कि वह वर्तमान को नष्ट कर देता है और दुःख ही पहुँचाता है। लक्ष्मणजी और परशुरामजी के बीच एक लंबा संवाद होता है। लक्ष्मणजी अपनी बात कहते हैं उसका ठीक-ठीक अर्थ परशुरामजी ग्रहण नहीं कर पाते। लक्ष्मणजी मानो एक दुभाषिये के रूप में सामने आते हैं और भगवान् राम की बातों को परशुरामजी को समझाते हैं।

लक्ष्मणजी परशुरामजी से कहते हैं - महाराज! हम लोग लड़कपन में खेल-खेल में बहुत सी धनुही तोड़ते ही रहते थे, पर आप तो कभी नहीं आये। आज क्या बात है? सुनकर परशुरामजी का क्रोध और बढ़ गया। वे बोले- तू, शंकरजी के धनुष और बच्चों की खेलनेवाली धनुही को बराबर बता रहा है? अरे राजा के लड़के! तू सँभालकर क्यों नहीं बोलता? इस प्रकार पहले परशुरामजी को इस बात पर क्रोध आ गया कि धनुष किसने तोड़ा और अब लक्ष्मणजी पर भी क्रोधित हो गये। वे कहने लगे -

रे नृप बालक काल बस बोलत तोहि न सँभार।
धनुही सम त्रिपुरारि धनु बिदित सकल संसार।। १/२७१

पूछा - महाराज! आप यही न मानते हैं कि भगवान् शंकर का

धनुष अद्वितीय है? हाँ है महाराज! अब तो दो ही बाते हैं, आप या तो यह मान लीजिये कि जैसे, खेल-खेल में धनुही टूट जाती है उसी तरह शिव-धनु भी भगवान् राम के हाथों, देखने के लिये छूते ही टूट गया। पर यदि आपको यह लगता है कि शिव-धनु तो अद्वितीय है, तब तो आपको थोड़ी और गंभीरता से विचार करना चाहिये। क्योंकि इस अद्वितीय धनुष को तोड़ने की सामर्थ्य रखनेवाला, धनुष की अपेक्षा भी अधिक महान् होगा। महाराज! ऐसी स्थिति में तो फिर उस महापुरुष के प्रति, आपके मन में आदर और नमन का भाव उत्पन्न होना चाहिये। साथ ही आपको, ऐसे व्यक्ति को अपने दास (शंकरजी के दास के दास) के रूप में पाकर प्रसन्नता ही होनी चाहिये। मानो लक्ष्मणजी का संकेत है कि आप जब इस दृष्टि से विचार करेंगे कि इस धनुष को शंकरजी ने ही कृपा करके अपने दासानुदास के हाथों तुड़वा दिया होगा, तभी न ऐसा अद्वितीय धनुष टूट पाया होगा। तब आपको क्रोध के स्थान पर प्रसन्नता का अनुभव होगा। लक्ष्मणजी परशुरामजी को यह बताना चाहते हैं कि इस धनुष के टूटने के साथ शंकरजी के प्रति विरोध को जोड़कर देखना ठीक नहीं है, इसलिये आपका क्रोध व्यर्थ ही है।

'मानस' के इस प्रसंग में आप देखते हैं कि परशुरामजी को पहले जनकजी पर क्रोध आया, उसके बाद धनुष तोड़नेवाले पर क्रोध आया, फिर लक्ष्मणजी पर क्रोध आ गया। इस प्रकार परशुरामजी का क्रोध तो बढ़ता ही चला जाता है। आगे चलकर एक स्थिति तो यहाँ तक पहुँच गयी कि लक्ष्मणजी बोले भी नहीं, बस! परशुरामजी की बात सुनकर उनको हँसी आ गयी, परशुरामजी ने उन्हें हँसते हुए देख लिया तो-

हँसत देखि नख सिख रिस ब्यापी।
राम तोर भ्राता बड़ पापी।। १/२७६/६

इसी बात से वे सिर से पैर तक क्रोध से भर उठे। ऐसे क्रोध से बचना चाहिये। क्रोध को आग कहा गया है, इसलिये उसे एक कोने में ही रखना चाहिये कि जिससे वह घर में न फैल जाय, अन्यथा वह अनर्थकारी बन जायगा। परशुरामजी को लगा कि यह छोटा राजकुमार मुझसे डर नहीं रहा है। वे भगवान् राम से कहते हैं कि-

सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही।
नीचु मीचु सम देख न मोही।। १/२७६/८

यह नीच मुझे मृत्यु के रूप में न देखकर उल्टा हँसे जा रहा है। अब लक्ष्मणजी से चुप नहीं रहा गया। उन्होंने परशुरामजी का ध्यान समस्या के मूल कारण की ओर आकृष्ट करते हुए कहा - मुनिवर! असली कारण तो आपका क्रोध ही है, अतः आप इसका परित्याग कर दीजिये-

लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल। १/२७७

परिहरि कोपु करिअ अब दाया।
टूट चाप नहिं जुरिहिं रिसाने।
बैठे होइहिं पाय पिराने।। १/२७७/१,२

लक्ष्मणजी की बातें सुनकर जनकजी भी डर गये कि यदि लक्ष्मणजी ऐसे ही बोलते रहे, तब फरसा चल जायगा, इसलिये उन्होंने कहा-

मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं।१/२७७/४

इस बालक को रोकना चाहिये, यह अनुचित बोल रहा है। भगवान् राम ने भौंहें थोड़ी सी टेढ़ी करके लक्ष्मणजी की ओर देखा - **नयन तरेरे राम।'** भगवान् की बंकिम दृष्टि देखकर लक्ष्मणजी मुस्कराये और बोलना बंद करके विश्वामित्र जी के पास जाकर खड़े हो गये। भगवान् राम ने जब आँखें तरेर के लक्ष्मणजी की ओर देखा, तो परशुरामजी भी थोड़े प्रसन्न हुए, यह सोचकर कि यह छोटा राजकुमार जो बोल रहा है वह अनुचित है, तभी तो उसका बड़ा भाई इस तरह से उसे देख रहा है। लक्ष्मणजी चुप हो गये पर परशुरामजी यह नहीं समझ पाये कि लक्ष्मणजी हँसे क्यों? वस्तुतः लक्ष्मणजी भगवान् राम की भौंहे टेढ़ी करने से यह सोचकर प्रसन्न थे, कि चलिये! आपने भौंहें तो टेढ़ी की। अन्यथा आपके बारे में लोगों को भ्रम हो जाता कि आपको क्रोध करना आता ही नहीं। यह तो अच्छा हुआ, अब आपके सामने गलती करते हुए कम-से-कम लोग डरेंगे तो।

भगवान् राम को आशा थी कि अब परशुरामजी का क्रोध शान्त

हो जायगा क्योंकि लक्ष्मणजी न तो बोल रहे थे और न ही हँस रहे थे। पर ऐसा हुआ नहीं। उल्टे, परशुरामजी कहने लगे कि भले ही यह न बोल रहा हो, न हँस रहा हो, पर देखो तो कैसे घूर-घूर कर देख रहा है? मैं क्रोध न करूँ तो क्या करूँ? -

कह मुनि राम जाइ रिस कैसें।
अजहुँ अनुज तव चितव अनैसें।। १/१७८/७

कुछ लोग ऐसे स्वभाव के ही होते हैं कि जिन्हें छोटी-छोटी बातों पर क्रोध आ जाता है। कुछ देर बाद फिर ऐसी स्थिति आ गयी कि लक्ष्मणजी को वहाँ से भी बोलना ही पड़ गया। अब तो परशुरामजी को भगवान् राम पर ही क्रोध आ गया। वे कहने लगे - राम! मैंने तो यह समझा था कि उसे तुमने आँख तरेर कर डाँटा था, पर मैं अब समझा कि तुमने उसे डाँटा नहीं था, बल्कि आँख से इसारा किया था कि यहाँ से नहीं, गुरुजी के पास जाकर वहाँ से बोलो। यह सब तेरी सम्मति से कर रहा है और तू बड़ा सीधा बन रहा है। मैं तुम्हारे इस छल को समझ गया -

बंधु कहइ कटु संमत तोरें।
तू छल बिनय करसि कर जोरें।। १/ २८०/१

उस समय भगवान् राम को भी यह विचार करना पड़ा कि-

कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोसू। १/ २८०/५

कभी-कभी बहुत सीधा होना भी दोष मान लिया जाता है-

गुनह लखन कर हम पर रोसू। १/ २८०/५

परशुरामजी अब लक्ष्मण के स्थान पर मुझसे उलझ रहे हैं।

आपने एक कथा सुनी होगी जिसमें एक महात्मा ने सर्प को उपदेश देते हुए कहा कि तुम अपने जहर के द्वारा लोगों को मार डालते हो, यह ठीक नहीं है, अतः क्रोध और हिंसा छोड़ दो। सर्प ने महात्माजी की आज्ञा स्वीकार कर ली। महात्माजी चले गये। कुछ दिनों बाद जब वे लौटकर आये तो देखा कि सर्प अधमरा-सा पड़ा हुआ है। महात्माजी ने चिंतित होकर पूछा- यह तुम्हारी क्या दशा हो गयी है? सर्प ने कहा- महाराज! यह तो आपके ही उपदेश का फल है। लोगों ने मुझे मारा-पीटा, पर मैंने आपको वचन दिया था, इसलिये मैं अहिंसक बना

रहा जिसके कारण मेरी यह दशा हो गयी है। महात्मा ने कहा - मैंने तुम्हें काटने के लिये मना किया था, फुफकारने के लिये थोड़े ही रोका था। अरे! तुम फुफकार कर लोगों को डराते रहते जिससे कि वे तुम्हारा अहित तो न कर पाते।'

भगवान् राम ने समझ लिया था कि परशुरामजी व्यर्थ ही मेरे ऊपर क्रोध कर रहे हैं। पर यह जानते हुए भी वे सोचते हैं कि परशुरामजी मुझसे बड़े हैं, उनके क्रोध का उत्तर क्रोध से देना समस्या का समाधान नहीं है। यही भगवान् राम का दर्शन है। वे जानते हैं कि क्रोध से क्रोध मिटता नहीं, इसलिये वे अपने मृदु और गूढ़ वचनों से ऐसा सुदृढ़ बाँध बनाते हैं कि जिससे परशुरामजी के क्रोध रूपी नदी की उद्दाम और बलवती, धारा तट की मर्यादा का अतिक्रमण न कर सके। हम देखते हैं, सचमुच परशुरामजी विचार करने लगते हैं - कैसा अद्भुत है यह राजकुमार! मैंने कितनी कठोर बातें कहीं, इसे बार-बार चुनौती देता रहा, पर यह तो बिल्कुल शान्त बना रहा। यह बोल तो रहा है विनम्रतापूर्वक पर, अन्य राजाओं की तरह इसमें भय का लेश भी दिखायी नहीं देता। तब वे भगवान् राम से यह पूछ देते हैं - तुम मुझसे डरते हो या नहीं डरते?

महाराज! मैं तो डरता हूँ। भगवान् राम ने जब यह कहा तो आश्चर्य से परशुरामजी ने फिर प्रश्न किया - डरते तो सब राजा हैं, पर वैसा डर तो मुझे तुम्हारे भीतर दिखायी नहीं देता? भगवान् राम कहते हैं- महाराज! वैसे तो मैं काल से भी नहीं डरता। काल से न डरने का कारण ही यही है कि आप जैसे महापुरुषों से डरता हूँ। वस्तुतः मेरी यह निडरता तो आपके आशीर्वाद का ही प्रभाव है। मानो प्रभु ने एक नयी व्याख्या दे दी। भगवान् के ये वचन, गोस्वामीजी मानस में इन पंक्तियों में प्रस्तुत करते हैं -

कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी।
कालहु डरहिं न रन रघुवंसी।।
बिप्र बंस के असि प्रभुताई।
अभय होइ जो तुम्हहिं डेराई।। १/२८३/४,५

इसका बड़ा सुखद परिणाम होता है, इसमें परशुरामजी का

क्रोध बिलकुल शान्त हो जाता है और जैसे बाढ़ शान्त होने के बाद नदी स्वच्छ हो जाती है, मिट्टी व अन्य गंदगियाँ नीचे बैठ जाती हैं, परशुरामजी भी शान्त और शुद्ध चित्त से बड़े भावपूर्ण शब्दों में भगवान् राम की स्तुति करते हैं। वे कहते हैं -

जय रघुबंस बनज बन भानू।
दहन दनुज कुल दहन कृसानू।।
जय सुर बिप्र धेनु हितकारी।
जय मद मोह कोह भ्रम हारी।।
बिनय सील करुना गुन सागर।
जयति बचन रचना अति नागर।।१/२८४/१-३

और स्तुति करने के बाद वे प्रसन्नतापूर्वक तपस्या करने के लिये चले जाते हैं।

इस प्रकार यह भूतवादी क्रोध ऐसा क्यों हुआ के कारण ही उत्पन्न होता है और वर्तमान को नष्ट कर देता है। कामनाओं की पूर्ति में बाधा पड़ने से उत्पन्न होनेवाला तथा लोभजन्य क्रोध भी व्यक्ति को दुःख ही पहुँचाते हैं। इसके स्थान पर विवेकजन्य क्रोध का भी व्यक्ति आश्रय लेकर क्रोध का भी सदुपयोग कर सकता है। इसलिये भूत में ही नहीं, यदि वर्तमान में भी भूल-चूक हो जाय, तो व्यक्ति विवेकपूर्वक यह सोच ले कि कोई बात नहीं जो हो गया सो हो गया, और फिर यदि उसके भीतर इस बात के लिये क्रोध उत्पन्न हो कि भविष्य में ऐसा नहीं होगा, तो ऐसा भविष्योन्मुखी विवेकजन्य क्रोध एक सद्संकल्प बनकर शान्ति की स्थापना में सहायक बन जायगा। जब हम सत्संग में जाते हैं, सुनते हैं तो क्रोध के इन विविध रूपों को समझते हैं कि प्रतिक्रिया के रूप में काम और लोभ से उत्पन्न होने वाले क्रोध से व्यक्ति को बचने का यत्न करना चाहिये। बड़ों के प्रति क्रोध का सदुपयोग करने के बाद उससे भी अपने आपको अलग कर लेना चाहिये। सत्संग का असली फल भी यही है कि इन बातों से प्रेरणा लेकर हम इनका जीवन में आचरण करें और इस क्रोध को भी अपने लिये कल्याणकारी बना लें।

□□

तुलसी से युगतुलसी तक

"युग तुलसी" परमपूज्य श्री रामकिंकर जी महाराज भक्त समुदाय में, विद्वत् वृन्द में, संत समाज में और रामकथा के प्रचार–प्रसार कर्त्ताओं में समान रूप से परम वन्दनीय माने जाते हैं। आज महाराजश्री के भाष्य को परम आधार के रूप में स्वीकार करके गोस्वामी तुलसीदास का दावा "श्रीरामचरितमानस छहों शास्त्र सब ग्रन्थन को रस" अर्थात् षड् शास्त्र, वेद, पुराण का निचोड़ श्रीरामचरितमानस है, यह "युगतुलसी" के भाष्य द्वारा प्रमाणित एवं सिद्ध हो गया है।

महाराजश्री का भाष्य इसीलिए "सर्वजनसुखाय" है, कि उनकी व्याख्याओं में भेद बुद्धि का सर्वथा अभाव है। चाहे शैव या वैष्णव हों, शाक्त हों या गणेश जी के आराधक हों, सबको महाराजश्री की मीमान्सा में आनन्दानुभूति होती है। गोस्वामी तुलसीदास जी के वास्तविक ग्रन्थ का निरूपण करते हुए परमपूज्य महाराजश्री सबको अपने इष्टदेव की भक्ति का अमृतपान कराते हुए हमें आकण्ठ संतृप्त कर देते हैं। फलतः एक बड़ी धार्मिक विसंगति से उत्पन्न संघर्ष का समाधान भी होता है जिसके कारण साम्प्रदायिक विरोधों का निर्मूलन हो जाता है। आप आलोचना एवं प्रत्यालोना के प्रपंच से पूर्णतः मुक्त हैं।

पूज्य महाराजश्री परम्परागत कथावाचक नहीं हैं, क्योंकि कथा उनका साध्य नहीं साधन है। श्रीरामचरितमानस, श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता एवं विनय–पत्रिका पर आधारित अब तक आपके 90 से अधिक ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है।

जिस प्रकार से निर्गुण, ब्रह्म और सगुण ईश्वर में एक तारतम्य है उसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी और परमपूज्य महाराजश्री में एकसूत्रता है।

—मन्दाकिनी श्रीरामकिंकरजी